गतिरोध, स्थिति और विकास

□ डॉ० इकबाल नारायण

भारतीय जनतंत्र के इतिहास में पिछले दो आम चुनाव, (१९७७ एवं १९८०) राजनीतिक विकास की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। अन्य बातों के अतिरिक्त यह बात निश्चित तौर पर कही जा सकती है कि दोनों ही बार भारतीय जन के निर्णय ने व्याख्याकारों को हतप्रभ कर व्यवस्था संबंधी संदिग्धता को बहुत सीमा तक दूर किया है। दूसरे शब्दों में अगर यह कहें कि सामान्य मतदाता ने इस अविश्वसनीयता और संदेह की परिस्थितियों में भी व्यवस्था को अपनी आस्था का सहारा

मूल-प्रश्न : जून, १९८१

देकर आधार प्रस्तुत किया है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। विशेषतया ऐसे वातावरण में जबकि यहां का प्रबुद्ध-जन जो इस व्यवस्था से लाभान्वित रहा है, व्यवस्था की सफलता, क्षमता और सामर्थ्य के प्रति लगभग निराश हो चुका है। व्यवस्था के विकल्प की वकालत उसके इसी मनः-स्थिति की उपज है।

राष्ट्रीय जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में व्याप्त असन्तोष, निराशा और उससे उत्पन्न व्यवस्था के प्रति घोर अनास्था को देखते हुए जन-समुदाय के निर्णय की यह परिपक्वता और अपने हितों को पहचान कर चयन की क्षमता देखने में काफ़ी संतोषजनक है। एशियाई भूभाग की राज-नैतिक परिस्थितियों के संदर्भ में तो भारत की यह घटना और भी महत्त्वपूर्ण लगती है। इस बात से सभी भली-भाँति परिचित हैं कि एशिया में विगत तीन दशकों में जो उथल-पुथल हुई उससे संसदीय जनतंत्र को कितना बड़ा आघात लगा है। इस क्षेत्र में जनतंत्रीय व्यवस्था लगभग समाप्त-सी हो गई है। ऐसी स्थिति में अनेकानेक चुनौतियों के रहते हुए भारतीय संसदीय व्यवस्था का अस्तित्व बने रहना सचमुच आश्चर्यजनक घटना कही जा सकती है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हमारे यहां यह व्यवस्था संबंधी प्रश्न परिस्थितियाँ और चुनौतियाँ अस्तित्व के बने रहने से सारहीन हो गयी हैं अथवा यों कहें व्यव-स्था संबंधी बहस का कोई ठोस आधार नहीं है। सातवें दशक में हुई उथल-पुथल और चुनौतियों को देखते हुए यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वर्तमान व्यवस्था सामा-जिक और आर्थिक प्रश्नों के दबाव से युक्त नहीं है वह अपेक्षित आकांक्षाओं के अनुकूल लक्ष्य प्राप्ति के अभाव में संकट और संघर्ष के घेरे में घिरी रहेगी। उसके समक्ष जनसमुदाय से संबंधित ज्वलन्त समस्याओं की चुनौती यथावत बनी हुई है। वर्तमान नेतृत्व जिसे जनमानस ने सहृदयता से समर्थन दिया है, उन्हें सुलझाने में सूझबूझ और दृढ़ता का अहसास देता है तो उसके अस्तित्व के संकट का और चुनौतियों का सामना करना अधिक सहज होता जायेगा इसकी उपादेयता और क्षमता पर व्याप्त संदेह तब ही दूर किया जा सकता है जबकि वर्तमान गतिरोध और उसके विविध आयामों को समुचित रूप से समझ कर उसे दूर करने के प्रयत्न किये जायें।

हमारी राज-व्यवस्था में गतिरोध के चिन्ह यहां के राजनीतिक विकास की प्रक्रिया और उसके परिणामों में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। वर्तमान में जो भी परिस्थितियाँ हैं वे किसी एक कारक की परिणाम नहीं बल्कि मिले-जुले तत्वों का नतीजा है। राष्ट्रीय जीवन के परम्परागत संस्कार और नूतन विचारों की बाढ़, उनका नैसर्गिक संघर्ष नये औद्योगिक आर्थिक ढांचे के पुनर्निमाण के प्रसवकाल की पीड़ा तथा संक्रमण की विविध स्थितियाँ नई व्यवस्था के समक्ष अनेकानेक प्रश्न खड़े करती हैं। राजनैतिक विकास भी इन सब स्थितियों से प्रभावित होता है जैसा कि भारत में हुआ है।

भारतीय राजनीतिक विकास के तीन दशकीय इति-हास में दल व्यवस्था की रचना और उसका विकास हमारा विशेष ध्यान आकर्षित करता है। मोटे तौर पर एक सुनिश्चित और सुदृढ़ दल व्यवस्था संसदीय जनतंत्र के सफल संचालन का आधार होता है जैसा कि पश्चिमी देशों में देखा जाता है। यही दल व्यवस्था एक रूप में सामा-जिक आर्थिक ढाँचे और वैचारिक रचना का दर्पण है। उसी के क्रिया-कलाप और कार्य-प्रणाली व्यवस्था को सीधे रूप में प्रभावित करते हैं अथवा यों कहें नयी व्यवस्था के संचालन की धुरी है।

स्वतंत्रोत्तर भारत में दलीय राजनीति का विकास अपेक्षित दिशा की ओर न होकर बहुत कुछ विपरीत स्वरूप ग्रहण कर रही है। कांग्रेस राज के एक-छत्र शासन अथवा एकाधिकार के राजनीति के पटाक्षेप के उपरान्त तो यह संकट और भी गहरा हो गया है। राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर बहुदलीय व्यवस्था और उसकी अनिश्चितता समूचे तन्त्र के लिये घातक सिद्ध हो रही है। सन् १९६७ के चुनावों के पश्चात जिस ध्रुवीकरण की आशा थी वह बाद के घटनाक्रम से धूमिल हो गई है। सन् १९७७ में राष्ट्रीय स्तर पर विकसित गठबन्धन से उत्पन्न जनता पार्टी का पुनः विघटन ने भी यही सिद्ध किया है कि भारत की दल-व्यवस्था अभी कोई सुदृढ़ आधार नहीं पकड़ पाई है। लगभग सभी दल अपने अन्दर विरोध और वैचारिक द्वन्द

के दोहरे दबावे से घिरे हुए से प्रतीत होते हैं। संक्षेप में अगर यह कहा जाय कि हमारी यह दलीय व्यवस्था राजनीतिक दृष्टि से द्वेषवृत्ति से ग्रस्त है तो असंगत नहीं होगा। यही स्थिति एक लिजलिजी अवस्था को द्योतक है जो भी हो वर्तमान दलीय व्यवस्था भारत जैसे संघ-राज्य के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुई है।

दलीय व्यवस्था का विकास समूचे तन्त्र के संचालन की दृष्टि से अनुकूल दिशा की ओर नहीं हुआ यह तो दीखता कारण है ही लेकिन इस स्थिति और द्वेषवृत्ति को उत्तरोत्तर बढ़ती प्रवृत्ति ने जिस सुविधा और संकीर्ण राजनीति को पत्र दिया है वह सम्पूर्ण शासन रचना को समाप्त करने की ओर अग्रसर हो रही है। स्थायित्व और अपेक्षित व्यवहार से विमुखता, संसदीय परम्पराओं की निरन्तर अवहेलना, संविधान के मूल सिद्धान्तों की अवज्ञा, सिद्धान्तहीन समझौते और व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये समूह हित का तिरस्कार एक ऐसी स्थिति है जो निराशा और व्यवस्था की विश्वसनीयता पर संदेह को जन्म देती है और यही हुआ भी है। इस समूची उहापोह ने राजनीतिक वायुमण्डल को पूर्णतया दूषित कर दिया है। राजनीति कर्मियों के व्यवहार ने न केवल उनकी बल्कि व्यवस्था की साख को भी धक्का पहुँचाया है।

राजनैतिक दलों की विश्वसनीयता के संदर्भ में उनके वित्तीय स्त्रोत और आर्थिक क्रिया-कलापों का उल्लेख भी अप्रासंगिक नहीं होगा। आज लगभग सभी राजनीतिक दल चुनाव लड़ने और अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये जिन आर्थिक स्रोतों का सहारा लेते हैं उसने न केवल उनके राजनीति अपितु व्यवस्था के संचालन को भी प्रभावित किये हुए हैं। चुनाव प्रणली अतीव खर्चीली है और उसके भागीदारों को येनकेन-प्रकारेण उसकी व्यवस्था करनी होती है। जिन बैशाखियों के सहारे राजनीतिक दल सत्ता की सीढी पर पहुँचता है वह अपने शासनकाल में उस विशिष्ठ वर्ग के हितों की आहुति देकर जनसाधारण के हितों की रक्षा करने में असमर्थ होता है। राजनीतिक दलों की घोषणाएं और प्रगतिशील नीति और भारी भरकम सिद्धान्त इस यर्थाथ के बोझ से दबकर अर्थहीन हो जाते हैं। चुनाव प्रक्रिया में संशोधन की माँग भी इसी स्थिति की उपज है। निसंदेह स्थिति इस बिन्दु तक पहुंच गई है कि उसका कोई शीघ्र और समुचित निराकरण नहीं हुआ तो यह आधारहीन दल व्यवस्था लड़खड़ा सकती है। राजनीतिक दलों और राजनीति कर्मियों की गिरती हुई साख के पीछे यह एक बहुत बड़ा कारण है।

सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन

संसदीय व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य जो इस देश के संविधान की प्रस्तावना में वर्णित है, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को प्रशस्त करता रहा है। संविधान शास्त्रियों द्वारा व्यवस्था को एक माध्यम के रूप में देखना तात्कालिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में न्यायसंगत भी था। व्यवस्था अपने आप में साध्य नहीं होती। वह जनसमुदाय की अभिलाषाओं, आदर्शों और अपेक्षित परिवर्तन का साधन होती है। उसकी सफलता का मूल्यांकन भी इसी बात को मद्देनजर रखते हुए किया जाता है। भारतीय राजनीति के विद्वानों के समक्ष आज भी यह प्रश्न बड़ा प्रासंगिक है। क्या वर्तमान जनतंत्रीय व्यवस्था सामाजिक और आर्थिक समूहों के दबाव और परम्परागत अल्प सामन्ती समाज की अनेकानेक सीमाओं के रहते हुए अपेक्षित परिवर्तन लाने में समर्थ है अथवा नहीं? जन आकांक्षाओं की अभूतपूर्व क्रान्ति और संसार के अन्य भागों में हो रही उथल-पुथल के संदर्भ में यह प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण है। मेरा यह विश्वास है कि भारत जैसे विकासशील देश में संसदीय जनतंत्र के माध्यम से यह परिवर्तन कठिन तो है किन्तु असम्भव नहीं। कठिन इसलिए कि यहां का सामाजिक और आर्थिक तन्त्र अपने समय और विशिष्ठ परिस्थितियों की उपज रहा है। दूसरा, यह व्यवस्था सांस्कृतिक विविधता, अभाव की राजनीति तथा अन्य घटकों की आंतरिक राजनीति के दबाव से निरंतर प्रभावित रही है। इन समूहों का दबाव और उसकी तीव्रता न केवल गतिरोध का कारण बनती है अपितु समाज के सोच की दिशा बदलने में भी सक्षम होती है। ऐसी परिस्थितियों में लक्ष्य की प्राप्ति स्वतः ही नहीं हो जाती बल्कि सरकारी मशीन ब्यूरोक्रेसी और सत्तातंत्र के भागीदार महानुभावों की क्षमता, दूरदर्शिता तथा कार्यान्वयन के स्तर पर प्रतिबद्धता पर निर्भर

करती है। हमारी व्यवस्था का मूल्यांकन इसी बात को आधार समझ कर किया जाना चाहिये।

विगत तीन दशकों में व्यवस्था की उपलब्धियों पर अगर विहंगम दृष्टि डाले तो यह कहना कदाचित ग़लत नहीं होगा कि सामाजिक और आर्थिक विकास की प्रक्रिया अपेक्षाकृत धीमी रही है। इस धीमी गति के पीछे अनेकानेक कारण भी दृष्टिगत होते हैं। एक बड़ा कारण तो हमारी सामाजिक-आर्थिक रचना का परम्परागत स्वरूप रहा है जो बहुत सीमा तक नूतन विचार और परिवर्तन के मूल्यों से सहजता से आत्मसात करने में समर्थ नहीं रहा। दूसरे शब्दों में यह दो भिन्न संस्कृतियों के बीच विरोधाभास और अर्न्तद्वन्द का प्रश्न है जो हमारे समाज के लिये कोई नया तत्व नहीं है। दूसरा, भारत जैसे बहुल समुदाय वाले समाज में जनतंत्रीय व्यवस्था विविध हितों बहुल समूहों के बीच संतुलन और संतुष्ट करने की प्रक्रिया से मुक्त नहीं होती। जनतंत्रीय प्रणाली में किसी भी सामाजिक, सांस्कृतिक समूह से कर अथवा अवहेलना कर सीधा चलना सम्भव नहीं होता। भारतीय व्यवस्था तीन दशकों में कुछ इसी तरह के दबावों और अर्न्तविरोधों के दौर से गुजरी है। हमारे यहाँ परिवर्तन की गति धीमी रही है। इसके पीछे ऐसे ही दबावों और क्रिया-कलापों का प्रभाव देखा जा सकता है।

यह बात बहुत सीमा तक सही है कि हमारे यहां विकास की सुनिश्चित योजना और तात्कालिक नेतृत्व में उसके प्रति गम्भीरता के उपरान्त भी आज लगभग आधी जनसंख्या गरीबी के स्तर से नीचे का जीवन यापन कर रही है। अस्पृश्यता की लड़ाई समाप्त नहीं हुई है बल्कि उसने धीरे-धीरे उग्र जाति संघर्ष का रूप धारण कर लिया है। बेरोजगारी बढ़ी है और जनसंख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई है। हमें इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि संक्रमण काल के इन तीन दशकों में गरीब और अमीर के बीच विषमता बढ़ी है सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में विद्यमान इस विषमता के परिणाम स्वरूप व्यापक हिंसा को पनपने का अवसर मिला है किन्तु इन सबके उपरान्त यह भी स्वीकार करना होगा कि हमने राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में मूल—को धरातल प्रदान किया है। यह स्थिति समस्याओं से जूझने और समुचित निराकरण का मार्ग प्रशस्त करती है। आज यहाँ का जनसाधारण राजनीतिक प्रक्रिया का सम्पूर्ण रूप से भागीदार तो नहीं है किंतु उसमें राजनीतिक सूझबूझ और क्षमता का विकास अवश्य हुआ है जो व्यवस्था के अस्तित्व और उसके विश्वसनीयता की दृष्टि से उत्तम चिन्ह है।

राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में उपलब्धियों की धीमी गति और बहुत सीमा तक असफलता की स्थिति का आंकलन भी अप्रासंगिक नहीं होगा। इसका एक मुख्य कारण वैचारिक विसृज्यता है जो भारतीय राजनीतिक विकास का महत्वपूर्ण अंग रहा है। यह एक ऐसा तत्व है जो हमारी राजनीतिक संस्कृति में रच-पच गया है और गतिरोध का मुख्य कारण भी कहा जाय तो ग़लत नहीं होगा। यह एम्बीवेलेन्स हमारी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में समझ में तो आता है किन्तु उपादेय क़तई नहीं है। कांग्रेस पार्टी का संगठन और उसमें से अन्तर्निहित विभिन्न धाराओं का संगम इसका ज्वलंत उदाहरण है। दूसरे शब्दों में यह बराबर विरोधी विचारों की संगम स्थल रहा है।

स्वतन्त्रता से पूर्व इसकी ऐतिहासिक आवश्यकता को तो नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता किंतु स्वातोन्तर भारत में संसदीय व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में इसका वर्तमान स्वरूप व्यवस्था रचना के लिये बहुत उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इस तरह के संगठन में स्पष्ट संघर्ष अथवा वैचारिक ध्रुवीकरण को उभारने के आसार कम होते हैं। यहां हुआ भी यही है। कांग्रेस-दल विविध मतमतान्तरों का एक ऐसा संधिस्थल बनकर रह गया जहां से संघर्ष की जोखम समाप्त-सी हो गई। ऐसी परिस्थितियों में न तो स्वर्गीय नेहरु और न ही उनके उत्तराधिकारी अपनी दृढ़ इच्छाओं को असली जामा पहना सके। अन्तरविरोधी मनोभावनाओं ने इच्छा-शक्ति को पंगु बनाकर रख दिया राजनैतिक नेतृत्व और ब्युरोक्रेसी की इस प्रवृति ने इसे लिजलिजे राज्य की श्रेणी में लाकर रख दिया है। तीसरी दुनिया के नवोदित राज्यों का यह स्वाभाव उनकी राजनितिक व्यवस्था और आर्थिक तन्त्र को नया और गतिवान स्वरूप देने में बाधक रहा है। व्यवस्था में गतिरोध का यह सबसे

उजागर चिन्ह है।

भारतीय राज्य की यह लिजलिजी स्थिति ही बहुत सीमा तक निराशा और व्यवस्था की उपादेयता में सन्देह का कारण रही है। राजनीति कर्मियों की दोहरी मनोभावना ने विकास की गति को अवरुद्ध किया है। सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की दिशा में जो भी अधिनियम पारित हुए, उन्हें अगर दृढ़ता से लागू किया गया होता तो स्थिति में अपेक्षाकृत ठोस बदलाव अवश्य आता। वर्तमान में व्यवस्था रचना में संशोधन अथवा आमूल परिवर्तन की जो बात कही जा रही है उसे आकांक्षा और अपेक्षाओं क्रान्ति ने एक नया रूप धारण किया है। दूसरे शब्दों में एक अधीरता की स्थिति उत्पन्न हो गई है। जनसाधारण अपनी रोजमर्रा की समस्याओं का द्रुतगति से समाधान चाहता है। उसके लिये वैचारिक और सैद्धान्तिक बहस बहुत महत्त्व नहीं रखती। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय जनतंत्र का अस्तित्व भी इस बात पर अधिक निर्भर करता है कि शासन रचना के भागीदार यहां की समस्याओं के प्रति कितना सार्थक और व्यवहृत दृष्टिकोण अपनाते हैं। अगर इस देश का इलिट वर्ग देश की ज्वलन्त समस्याओं को सुलझाने में सूझबूझ नहीं दर्शाता है तो यह व्यवस्था अपनी विश्वसनीयता को बरकरार नहीं रख सकेगी और यह बात न केवल इस क्षेत्र के लिये अपितु समूचे एशियाई जगत के लिये दुर्भाग्यपूर्ण होगी। □